

गिरिराज किशोर के उपन्यासों में दलित प्रश्न

डॉ. नीतू शर्मा

हिन्दी विभाग

स्टेनी मेमोरियल पी.जी. कॉलेज, जयपुर (राजस्थान)



शोध सारांश

भारतीय समाज में हजारों वर्षों से चली आ रही अमानवीय अछूत परम्परा या दलितों की स्थिति सबसे ज्यादा शोचनीय, पीड़ादायक व त्रासद रही है, क्योंकि दलितों की दयनीय स्थिति को भाग्यवाद के अन्धविश्वासों से जोड़ दिया गया है। इसी भयावह विडम्बना के साथ गिरिराज किशोर ने एक दलित कर्मचारी का त्रासदी व अभिजात्यों की अमानवीयता को प्रकट करता उपन्यास 'यथा प्रस्तावित' लिखा है। जिसमें जीवन का कटु अनुभव व यथार्थता का बोध समाया हुआ है। इसी तरह की चिन्ता को व्यक्त करता उनका दूसरा उपन्यास 'परिशिष्ट' है जिसमें अभिजात्यों द्वारा दलित की प्रतिभा को उभरने न देने या उसे ढँके रखने के प्रयास को सूचित करता है। राष्ट्रीय महत्व की महान शिक्षा संस्थाओं में किसी तरह दाखिला प्राप्त करने वाली साधनहीन तथाकथित जातिहीन छात्रों की त्रासदी व उनके परिवार पर आई विपत्ति को प्रकट करता उपन्यास 'परिशिष्ट' है।

हरिजन समाज का जीवन और तमाम आरक्षणों के बावजूद उनके सामने जी पाने की समस्याएँ, प्रशासन की उदासीनता, जातिगत वैमनस्यता आदि प्रश्नों को उठाता गिरिराज किशोर का साहित्य एक विशेष वर्ग का पक्ष प्रस्तुत करता है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के चर्चित उपन्यासकार हैं गिरिराज किशोर। जिन्होंने भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों पर समान दृष्टि रखते हुए समसामयिक समस्याओं को हिन्दी साहित्य के माध्यम से समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है। साहित्य की कोई भी विधा चाहे नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध या फिर आलोचना सभी में उन्होंने अपनी बात रखने की कोशिश की है। गाँधी जीवन पर लिखा गया उपन्यास "पहला गिरमिटिया" वैचारिक दृष्टि का अद्भुत साक्ष्य है, अपनी प्रासंगिकता के कारण। जिसमें उन्होंने एक साधारण मनुष्य के असाधारण व्यक्तित्व की कथा कही है। यूँ तो सभी उपन्यास लोग, जुगलबन्दी, दो, दावेदार, तीसरी सत्ता, अन्तर्ध्वंस, चिड़ियाघर, असलाह, यातना घर आदि में उनके स्वतंत्र चिन्तन की छाप झलकती है जिसमें उनका सामाजिक सरोकार स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

'परिशिष्ट' और 'यथा प्रस्तावित' राजकमल प्रकाशन दिल्ली द्वारा 1984 में प्रकाशित उपन्यास है जो भारतीय दलित अछूत वर्ग की तमाम त्रासद स्थितियों और माननीय सरोकारों को विश्लेषित एवं निर्धारित करने की कोशिश करते हैं। इस सन्दर्भ में अभी से ही नहीं प्रेमचन्द के समय से ही ध्यान दिया जा रहा है, किन्तु प्रेमचन्द

का यथार्थ सादगीपूर्ण एवं सरल है, जबकि गिरिराज किशोर ने वर्तमान संदर्भों से जोड़ा है।

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज जातियों की शृंखला में बंधा हुआ है वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत चार वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र माने जाते थे। जिनके कार्य वर्णानुसार निश्चित थे। ब्राह्मण पूजा पाठ, क्षत्रिय युद्ध और रक्षा, वैश्य व्यापार तथा शूद्रों द्वारा अन्य वर्णों की सेवा-सुश्रूषा कार्य निष्पादित था। धीरे-धीरे ये वर्ण व्यवस्था जातियों में और फिर उपजातियों में विभक्त होती चली गई। जिनमें कर्म से श्रेष्ठ मानी जाने वाली जाति मजबूती से और मजबूत होती चली गई वहीं निम्न कार्य में रत जाति का स्वरूप आधुनिक भारत में दीन-हीन और दलित जाति के रूप में और भी निम्नतर होता चला गया।

दलित से तात्पर्य

दलित शब्द का अर्थ डॉ. एन.सिंह के अनुसार- "जिसका दलन किया गया हो।"¹ यहाँ दलन का आशय शोषण से है सवाल यह उठता है कि समस्त शोषित उत्पीड़ित वर्ग को जिनमें नारी से लेकर आदिवासी तक शामिल है या जाति-व्यवस्था की बर्बरता के शिकार उस वर्ग को, जिसे गाँधीजी ने हरिजन कहा है किसे

दलित मानेगे? इसके जवाब में प्रसिद्ध आलोचक डॉ. मैनेजर पाण्डेय का कथन है कि “अगर दलित का अर्थ पराधीन स्थिति में रहने वाले लोगों से है तो उसके भीतर गाँधी के हरिजन, इस देश के आदिवासी और स्त्रियाँ सब शामिल हैं। लेकिन मैं जब दलित शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ तो मेरे ध्यान में वे हैं जिन्हें भारतीय वर्ण-व्यवस्था में शूद्र कहा जाता है। औरतों की पराधीनता का सवाल वर्ण ही नहीं, वर्ण की भी सीमा को पार करता है, क्योंकि केवल उच्च वर्ण और उच्च वर्ण की स्त्रियाँ ही पराधीन नहीं होती, दलितों की स्त्रियाँ भी पराधीनता और गुलामी की यातनाएँ सहती हैं।”²

यहाँ वर्ण से नहीं वर्ण से आशय है- दलित जाति अथवा अनुसूचित जाति जिन्हें सन् 1949 के विधान में इन दलित जातियों को कुछ विशेष सुविधाएँ प्रदान करने हेतु एक अनुसूची तैयार की गयी, जिसके आधार पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इनको अनुसूचित जाति कहा गया। आज सभी सरकारी नीतियों में इन्हें अनुसूचित जाति या हरिजन के नाम से सम्बोधित किया जाता है। अनुसूचित जाति के संबंध में अनेक विद्वानों के विचार कुछ इस तरह से हैं। डॉ. एम.के. शर्मा के अनुसार- “अनुसूचित जाति वह जाति है जिसके स्पर्श से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाए और उसे पवित्र होने के लिए कुछ कृत्य करने पड़े।”³ डॉ. शर्मा की परिभाषा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं धर्म का क्षेत्र पवित्र है, इसलिए इसमें अपवित्र वस्तुओं या व्यक्तियों का प्रवेश नहीं हो सकता। उपन्यासकार गिरिराज किशोर का कहना है- “जातियाँ अनुसूचित नहीं होती” मानसिकता होती है। मानना और समझना दोनों।”⁴ जन्म और धर्म से समान होते हुए भी जाति और वर्ण के नाम पर अनुसूचित माना और समझा जाना वास्तव में विशिष्ट प्रकार की मानसिकता ही होती है।

अस्तु हम कह सकते हैं अनुसूचित जाति वह जाति है जिसे मुख्यतः धार्मिक आधार पर विभिन्न दशाओं में अपवित्र इसलिए माना जाता है कि उनके कार्य या पेशा अपवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित है। अनुसूचित जातियों में प्रमुखतः भंगी, चमार, रैगर, धानुक, बलाई, कोली, खटीक, मेहतर, साँसी इत्यादि हैं।

इस देश में द्विजातीय संस्कृति पनपी, दोहरे मापदण्ड, दोहरी आचार संहिताएँ निर्मित की गईं। ये दो संस्कृतियाँ थीं- सवर्ण और अवर्ण। सवर्ण संस्कृति श्रेष्ठतर कार्यों की वजह से अत्यधिक अभिमानी, स्वार्थी, स्वान्तः, सुखायवादी, जीवन के यथार्थ से अलग-थलग अपनी और अपनी जाति की समृद्धि से सरोकार रखने वाली थी। सत्ता और समाज में वर्चस्व बनाये रखने के लिए धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करना, धर्म, पाप-पुण्य के नाम पर जनता को डरा कर रखना इनकी दिनचर्या रही। इस संस्कृति ने हर पाप, हर जुल्म क्षम्य होने का प्रावधान भी रखा है

लेकिन सिर्फ सवर्णों के लिए। निम्न वर्ण में जन्मने का पाप इनके लिए क्षम्य नहीं है उन्हें तो मरते दम तक इस दोष की सजा भुगतनी ही है जो दोष उनका स्वयं का किया हुआ नहीं है। मनुवादी संस्कृति ने मानवता का अर्थ व मानव संवेदना का दायरा केवल कुछ जातियों तक ही सीमित रखा। इसने ऐसी कई सांस्कृतिक जड़ताएँ निर्मित कर दीं, जिसके बल पर अधिकार प्राप्त कर बाकी जन समूह को दासता से बदतर पशुतुल्य जीवन जीने को बाध्य ही नहीं किया बल्कि उनकी संवेदना को जड़ बना कर उसी में सन्तुष्ट रहना भी सिखाया। सांस्कृतिक जड़ताएँ धर्म, शिक्षा व विवाह सम्बन्धित नियमों के संबंध में आज भी उतनी ही जड़ व अचेतन हैं।

हर धर्म का आधार आस्था और विश्वास है तर्क नहीं। आस्था और विश्वास, चमत्कारों, मिथकों, किंवदंतियों, अन्धविश्वासों के कंधों पर सवार होकर ही पनप सकते हैं चमत्कार धर्म का सबसे बड़ा हथियार होता है और यह हमेशा अतार्किक होता है कौतुक के माध्यम से जनता को आकर्षित करके अपनी बात मनवाने का तरीका भी प्रायः हर धर्म अपनाता रहा है। किन्तु दुनिया का ऐसा कोई भी धर्म नहीं जहाँ मनुष्य को अछूत माना जाता हो, यह निकृष्ट और बदतर मानसिकता केवल हिन्दू धर्म में है। ‘परिशिष्ट’ में हिन्दुओं द्वारा थोपी गई धर्म-कर्म की मानसिकता को दलित पात्र अनुकूल की माँ में भी देखा जा सकता है, जहाँ वे अपने बेटे अनुकूल द्वारा वाल्मिकी छात्र के रूप पार्टनर बना लेने पर कहती हैं- “अनुकूल तूने यह क्या किया ? बिरादरी वालों को पता चलेगा तो कोई पास नहीं फटकेगा। धर्म-कर्म में आग लगाने थोड़ी भेजा था। क्या इसी दिन के लिए अनुकूल को पाल-पोस कर बड़ा किया था कि वह अगत बिगाड़ दे? जनम-कर्म में थूक दिया।”⁵ यहाँ ये अपने आपको सवर्णों की मानसिकता से अलग नहीं कर पा रहे हैं, हरिजनों में भी स्वयं को ऊँचे-नीचे मानने वाले हैं।

दलित हर जुल्म को भाग्य की देन मानते हैं। इसके पीछे सवर्णों की स्वार्थी मानसिकता रही है, इसने श्रम करने वाले पिछड़ों, दलितों, आदिवासियों को अधिकार विहीन ही नहीं स्वाभिमान-विहीन भी बना दिया। भाग्य और पूर्वजन्म पर आधारित सोच का गुलाम बना कर अभिजात संस्कृति ने धर्म के नाम पर इनका भरपूर शोषण किया।

वस्तुतः अछूत भावना या अस्पृश्यता मुख्यतः तीन रूढ़िवादी मान्यताओं पर आधारित है, जिसे धार्मिक आस्था के चोले से ढका गया है- खान-पान सम्बन्धी नियम, शादी का संबंध तथा धार्मिक उत्सव। अछूत के साथ बैठकर भोजन करना तो दूर उसके छूने मात्र से ही सवर्ण हिन्दू शरीर को अशुद्ध हुआ मानते

हैं। मन्दिर में प्रवेश तथा धार्मिक उत्सवों में अछूत का सहयोग तो दूर, वह मन्दिर में रखी हुई मूर्ति का दर्शन भी नहीं कर सकता है। 'यथा प्रस्तावित' में त्रिपाठी के गिलास को बालेसर द्वारा छू लेने पर जहाँ त्रिपाठी का धर्म भ्रष्ट होता है, वही अनुकूल के पहले नहाने पर 'परिशिष्ट' में ऊँची जात वालों में हंगामा मच जाता है दरअसल ये सोच ही एक बर्बर अपसंस्कृति की जननी है, जो सामन्ती घोर प्रतिक्रियावादी, अमानवीय, कठपुतली प्रवृत्तियों को गौरवान्वित करती रही है।

उपन्यास 'परिशिष्ट' में अनुकूल के पहले नहा लेने पर सवर्णों द्वारा पूछे जाने पर गुसलखाना साफ है या नहीं। इस पर बावनराम तमककर जवाब देते हैं, जो सवर्णों के मुँह पर करारे तमाचे जैसा पड़ता है- "साफ होने से क्या मतलब ? आपके बाथरूम से निकलने के बाद अगर हम यही सवाल पूछे तो आप हमें जिन्दा जला डालेंगे। हमारी बेइज्जती नहीं होती? मैल तो सबके शरीर से एक सा ही निकलता है.... ऐसा नहीं कि आप ऊँची जात के हो तो आपके शरीर से कुछ भिन्न प्रकार का निकलता हो या आप सोते हुए कुछ अलग तरह साँस लेते हो।"⁶

दलित-वर्ग की पीड़ा को बालेसर अपने शब्दों में व्यक्त करता है- "आखिर मैंने ऐसा क्या किया जो मुझे साँस नहीं लेने दिया जाता, न मैं अपनी मर्जी से इस जात में पैदा हुआ और ना ही इस जात के छोटे पन के कारण मैं प्राण त्याग कर दूसरी बड़ी जात में पुनः जन्म ही ले सकता हूँ, जो चीज मेरे हाथ में ही नहीं उसके लिए मुझे क्यों सताया जा रहा है।"⁷ 'यथा प्रस्तावित' में सवर्णों की बात का जवाब बालेसर की पत्नी कुछ इस तरह देती है- "इन्हीं कमबख्तों के मारे रात-दिन अन्दर रहते हैं बाहर निकलते तक नहीं। सिगड़ी भी बाहर जलाते हैं तो ये इसी तरह चिल्लाते हैं और नहीं तो पास-पड़ोस वाले ही निकल कर गाली-गुस्सारा करने लगते हैं, जैसे इनकी सिगड़ी बिना धुएँ के जलती हो। हमारी सिगड़ी से निकला धुआँ इन्हें अपवित्र लगता है। जात के पवित्र ऐसी-ऐसी बकते हैं कि सुनी नहीं जाती। फिर भी ये पवित्र के पवित्र और हम नीच और अपवित्र दोनों। देह धरे का दण्ड है सो भोग रहे हैं। भोगेंगे, नहीं भागेंगे। हम भागेंगे तो ये बच्चे हमसे पहले भाग खड़े होंगे। जीते-जी न कुएँ खत्ती में गिरा जाय ना जात बदल कर बेजात हुआ जाय।"⁸

बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म के इस पाखण्ड को खत्म कर दलितों का भाग्य और भगवान की ग्रन्थि से मुक्ति पाकर वैज्ञानिक आधार पर सम्मानपूर्वक जीने का रास्ता दिखाया। हिन्दू धर्म की विकृतियों से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने तीन बातें कहीं-शिक्षित हो, संघर्ष करो, और संगठित हो; क्योंकि

वे जानते थे कि हिन्दू धर्म में रहते हुए यह दबा कुचला गरीब दलित समाज जो इस धार्मिक, जातीय सांस्कृतिक, राजनैतिक अन्याय को अपनी नियति मानकर मस्त है इसको पहले हिन्दू धर्म के पिंजड़े से मुक्त कराना जरूरी है, ताकि वह उसकी विकृतियों, पाखण्डों, रूढ़ियों, परम्पराओं से अपने को मुक्त मान सके तभी वह भगवान से मुक्ति पाकर एक वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण जिन्दगी जी पायेगा।

छुआछूत की यह जकड़न सवर्णों में ही नहीं दलितों में भी जड़ हो चुकी है, जहाँ वे स्वयं अपनी बिरादरी से बाहर नहीं निकलना चाहते हैं। लड़कियों को पढ़ा-लिखा अपने पैरों पर खड़े होने की बात पर बौखला उठते हैं। नहीं पढ़ना अपना धर्म समझते हैं तभी तो 'परिशिष्ट' में अनुकूल की माँ, बेटियों की पढ़ाई पर अंकुश लगाते हुए कहती है- कि पढ़ी-लिखी बेटियों को ब्याहने वाला कौन बैठा है, तुम्हारी बिरादरी में।⁹ बिरादरी के बाहर शादी-विवाह जैसी बातों पर इनकी प्रतिक्रिया जड़ हो जाती है। अपनी असहायता के साथ दुःख सहन करना अपनी नियति मान बैठे हैं। तभी तो 'परिशिष्ट' में ही बाबूराम बाल्मिकी अपनी बहन की दुर्दशा पर आँसू बहाते हुए कहता है- "मेरी जिज्जी सुन्दर भी हैं और गुणी भी पर भाग्य की हेठी है। बापू ने सोचा कि लड़का सरकारी नौकरी में हैं रोटी-दाल का डौल रहेगा। पर हमारी जात ही ऐसी है... पीना, खेलना, औरतों को मारना, बेचना इतना चलता है, बापू हमेशा कहा करते थे कि मेरा बस चले तो मैं अपनी राजकुमारी को बिरादरी के बाहर ब्याऊँगा। पर.... पड़ा।"¹⁰

परम्परा से चली आ रही पीड़ा को कुछ यूँ वक्त करते हैं- "नहीं भैया, हिम्मत न हारो। अपने पुरखों को देखो। हजारों साल सन्तानहीन पितरों की तरह अपमान के कुएँ में उल्टे लटके रहे.... कोई आयेगा तो उद्धार करेगा, सम्मान दिलायेगा। गाँधी और अम्बेडकर बाबा आये..... लेकिन और लोगों को भी आना है। वे तो आकर चले गये। पितर-ऋण से बढकर कोई ऋण नहीं.... सब चुक जाते हैं वो नहीं चुकता। ठीक है, गड्डा बहुत गहरा है। हिम्मत हारना ठीक नहीं। खुद भी निकलो, औरों को भी निकालो। बिना दांत वाले साँप धरती में ही घुसे रहते हैं..... बाहर नहीं निकलते, कोई मार न डाले, ऐसे कब तक पड़े रहेंगे.... निकलना तो होगा ही।" परम्परा और संस्कृति की दोहरी मार यह वर्ग हमेशा से झेलता आया है।¹¹ यह मानसिक जड़ता सदियों से चली आ रही सवर्णों की बनाई धर्म नीति पर आधारित है। इसका एक कारण स्वयं दलितों का मनुवादी होना और जातियों में बँटा होना भी है। इन्होंने स्वयं को अनेक जातियों में बाँट रखा है। शिक्षा को अभिजनों की बपोती ही मान लेना अवर्णों की मानसिक जड़ता है, जिसमें धीरे-धीरे सुधार या यूँ कहिये प्रतिक्रिया प्रकट होती दिखाई पड़ती है आई.आई.टी में दाखिले की बात पर नेता के मना करने पर

भी बावनराम हतोत्साह नहीं होते तथा यही कहते हैं- “यह बच्चा इसलिए नहीं पैदा हुआ कि बाप की तरह लोहा लंगड़ दौये। ऊपर से बूटों की मार पड़े। अगर यही लड़के आगे नहीं बढ़ेंगे तो फिर हम लोगों के सामने से तो ‘आगे’ शब्द ही लोप हो जाएगा। एक-आध कदम तो ये भी आगे बढ़ें, चौधरी साहब।”¹²

यह विरोधाभास एक पल में ही नहीं बदला बल्कि कई सालों का उत्पीड़न दलित वर्ग को विद्रोह करने को मजबूर करता है तभी ‘परिशिष्ट’ में बावनराम कहते हैं- “कुछ बनने के लिए बहुत कुछ खोना या सह लेना पड़ता है। जिन्दगी में कुछ बनने के लिए यह सब भी जरूरी है। हमारे बाप-दादों के साथ जो कुछ हुआ उसी का असर तो हम लोगों के मनो पर भी पड़ा है। कब से सहते चले आ रहे हैं। लेकिन कभी महसूस नहीं किया। जब से महसूस करना शुरू किया तो बदलाव दिखाई दिया। आने वाली पीढ़ी शायद इसे और ज्यादा महसूस करें।”¹³ परम्परा व संस्कृति के यह अन्तर्विरोध बालेसर व बावनराम के शब्दों में मुखर होने लगे हैं। इन यातनाओं को झेलते हुए वह यही कहते हैं कि-“हमारे जिन्दा रहने के स्रोतों को दुःख में सुख प्राप्त करने की गरज से न काटे। सच कहता हूँ यह छूट की बीमारी है। यह हम जैसे लोगों तक ही सीमित नहीं रहेगी।”¹⁴

शिक्षा, धर्म, समाज, राजनीति, प्रशासन आदि के जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में अनुसूचित को प्राप्त इस यातना को देख सकते हैं हर तरह की भ्रष्टता इन्हें अपने चंगुल में फँसा लेना चाहती है। चौधरी साहब आदर्शों के नाम पर होने वाले प्रपंचों के बारे में कहते हैं- दरअसल हम लोग राजनीतिक गुलामी से छुट्टी पा गये हैं, हमारी अपनी मानसिक गुलामी जस की तस बनी हुई है, कहकर हँसे। फिर बोले जिस मिलावट को निकालना चाहता था। वह दो आने बढ़कर पन्द्रह आने हो गई है अब सच्चाई कहीं नहीं....। पानी में दूध की तरह मिलावट है। देखने वाले को दूध का अहसास बना रहता है।”¹⁵ आदर्श और यथार्थ का बढ़ता द्वन्द्व निरन्तर समाज को गर्त की खाई में ढकेल रहा है। ‘परिशिष्ट’ के बारे में कुछ इस तरह के विचार प्रकट हुए हैं- “राष्ट्रीय महत्व की महान शिक्षा-संस्थाओं में किसी तरह दाखिला प्राप्त करने वाले साधनहीन और तथाकथित जातिहीन छात्रों की त्रासदी उबलते तेल में डाल दिये जाने वाले व्यक्ति के संत्रास की तरह होती है जो पहली बार ‘परिशिष्ट’ के रूप में सामने आई है।”¹⁶

गिरिराज किशोर ने समाज की इस विडम्बना पर अपने विचार व्यक्त किये हैं- “विकसित होते समाज में अपेक्षाएँ और इच्छाएँ वेगवती नौकाएँ हो जाती हैं। वे सतह पर अबाध बहना चाहती हैं। ऐसे में कुछ नौकाओं के पालों से हवा निकाल दी जाय तो वे यात्राएँ ‘परिशिष्ट’ मात्र रह जाती हैं।”¹⁷ “दलित साहित्य

की परम्परा होने के बावजूद एक प्रकार से देखा जाये तो यह वर्ग अस्पृश्य ही रहा है। क्योंकि दया तो पर्याप्त मात्रा में उमड़ती दिखाई देती है, किन्तु न इस वर्ग की आशाओं, आकांक्षाओं का चित्रण हुआ है, और ना ही वे व्यथाएँ यहाँ पर उभारी गई हैं, जो उनके लिए इस वर्ग में पैदा होने मात्र के कारण हैं।”¹⁸

यथार्थ व आदर्श के इन द्वन्द्वों को गिरिराज किशोर ने पूरी निष्पक्षता से उभारा है। वे मानते हैं कि दलित वर्ग की समस्याओं को लेकर जो परिवर्तन आये हैं उनके साथ लेखक पूरी तरह जुड़ नहीं पाया है। भारतीय समाज में यह परिवर्तन बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि यह वर्ग जो अभी तक अपनी पहचान उपेक्षित वर्ग के रूप में रखता था उसे गरिमा मिली है, परन्तु यह अनुभव और जीवन की मुख्य धारा का अंग नहीं बन सका है क्योंकि सभी कसौटियाँ इतनी संवेदनशील नहीं हो पायी हैं कि आने वाले परिवर्तनों को परिलक्षित कर सकें।

संदर्भ सूची

1. गुप्ता, रमणिका, दलित चेतना, पृ. 25
2. गुप्ता, रमणिका, दलित चेतना, पृ. 3
3. मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ. 28
4. किशोर, गिरिराज, परिशिष्ट, राजकमल प्रकाशन, 1984 पृ. भूमिका
5. किशोर, गिरिराज, परिशिष्ट, राजकमल प्रकाशन, 1984 पृ. 102
6. वही, पृ. 68
7. वही, पृ. 77
8. किशोर, गिरिराज, यथा प्रस्तावित, राजकमल प्रकाशन, पृ. 248
9. वही, पृ. 11
10. वही, पृ. 137
11. वही, पृ. 52
12. वही, पृ. 62
13. वही, पृ. 32
14. किशोर, गिरिराज, यथा प्रस्तावित, राजकमल प्रकाशन, 1984, पृ. 79
15. किशोर, गिरिराज, परिशिष्ट, पृ. 89
16. वही भूमिका से
17. वही भूमिका से
18. नायर, शान्ति, उपन्यास शिल्पी गिरिराज किशोर, वाणी प्रकाशन, 2000 पृ. 46